

षट्द्रव्य विवेचन

छह द्रव्य

द्रव्यका सामान्य लक्षण यह है—जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोंको क्रमशः प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यसे युक्त^१ होता है। उसके मूल छह भेद हैं—१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल। वे छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

१. जीव द्रव्य

जीव द्रव्यको, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शनमें एक स्वतंत्र मौलिक माना है। उसका सामान्य-लक्षण उपयोग^२ है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीवका असाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्यमात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। चूँकि उसका अनादिकालसे सूक्ष्म कामंज शरीरसे सम्बन्ध है, अतः वह कर्मोदयसे प्राप्त शरीरके आकारके अनुसार छोटे-बड़े आकारको धारण करता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित गायामें बहुत स्पष्ट बताया गया है—

“जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥”

—द्रव्यसंग्रह गायी २

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीवमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नहीं पाये जाते, इसलिए वह स्वभावसे अमूर्तिक है। फिर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बड़े शरीरके परिमाण हो जाता है। आत्माके आकारके विषयमें भारतीय दर्शनोंमें मुख्यतया तीन मत पाये जाते हैं।^३ उपनिषद्में आत्माके सर्वगत और व्यापक होनेका जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप होनेका भी कथन है।

१. “अपरिचित्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति बुच्चंति ॥३॥”—प्रवचनसार ।

“दवियदि गच्छदि ताइ ताइ सवभावपज्जयाइ ।”—पंचा० गा० ९ ।

२. “उपयोगो लक्षणम्”—तत्त्वार्थसूच २।८ ।

३. “सर्वव्यापिनमात्मानम् ।”—श्वे० १।१६ ।

४. “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः”—श्वे० ३।१३ । कठो० ४।१२ ।

“अणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा” —छान्दो० ३।१।३ ।

व्यापक आत्मवाद

वैदिक दर्शनोंमें प्रायः आत्माको अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होनेपर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न (शरीरके भीतरके) आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि विशेष गुणोंकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त होनेके कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमें गति नहीं होती। शरीर और मन चलता है, और अपनेसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादिकी अनुभूतिका साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवादमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि—एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागोंमें सगुण और कुछ भागोंमें निर्गुण कैसे रह सकता है? फिर जब सब आत्माओंका सम्बन्ध सबके शरीरोंके साथ है, तब अपने-अपने सुख, दुःख और भोगका नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येकके अदृष्टका सम्बन्ध उमकी आत्माकी तरह अन्य शेष आत्माओंके साथ भी है। शरीरसे बाहर अपनी आत्माकी सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापक-पक्षमें एकके भोजन करनेपर दूसरेको तृप्ति होनी चाहिए, और इस तरह समस्त व्यवहारोंका सांकर्य हो जायगा। मन और शरीरके सम्बन्धकी विभिन्नतासे व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्षकी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती हैं। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते हैं, वहीं उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव माना जाता है। गुणोंके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न तो बड़ा होता है, और न छोटा हो। सर्वत्र आकृतियोंमें गुणीके बराबर ही गुण होते हैं। अब यदि हम विचार करते हैं तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्माके गुण हमें शरीरके बाहर उल्लब्ध नहीं होते तब गुणीके बिना गुणीका सद्भाव शरीरके बाहर कैसे माना जा सकता है?

अणु आत्मवाद

इसी तरह आत्माको अणुरूप माननेपर, अणुमें काँटा चुभनेसे सारे शरीरके आत्मप्रदेशोंमें कम्पन और दुःखका अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप आत्माकी सारे शरीरमें अतिशीघ्र गति माननेपर भी इस शंकाका उचित समाधान नहीं होता; क्योंकि क्रम अनुभवमें नहीं आता। जिस समय अणु आत्माका चक्षुके साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिन्नक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असम्भव है। किन्तु नीबूको आँखसे देखते ही जिह्वा इन्द्रियमें पानीका आना यह सिद्ध करता है कि दोनों इन्द्रियोंके प्रदेशोंसे आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिरसे लेकर पैर तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमें कालभेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्यसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्धमें उठता है कि—‘अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे-बड़े शरीरमें भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप?’ किन्तु जब अनादिकालसे इस आत्मामें पौद्गलिक कर्मोंका सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभावका आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत हैं? ‘इस प्रकारका एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमें कि स्वभावसे संकोच और विस्तार होता है।’ यह माननेमें युक्तिका बल अधिक है; क्योंकि हमें अपने ज्ञान और सुखादि गुणोंका अनुभव अपने शरीरके भीतर ही होता है।

भूत-चैतन्यवाद

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे शरीरकी उत्पत्तिकी तरह आत्माकी भी उत्पत्ति मानते हैं। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थोंके सड़ानेसे शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे चैतन्य शक्ति भी

उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्माका धर्म न होकर शरीरका ही धर्म है और इसलिए जीवनकी धारा गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही चलती है। मरण-कालमें शरीरयन्त्रमें विकृति आ जानेसे जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदोंमें भी देखा जाता है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्ममें अपना विकास करते हैं। जन्मान्तरस्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि—इस कर्मपरतंत्र आत्माकी स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीरके अवयवोंके अधीन हो रही है। मस्तिष्कके किसी रोगसे विकृत हो जानेपर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। रक्तचापकी कमी-बेशी होनेपर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियोंने भी थाइराइड और पिचुयेटरी (Thyroid and Pituitary) ग्रन्थियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हॉर्मोन (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जानेपर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्वके माननेपर ही संभव हो सकता है; क्योंकि संसारी दशामें आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी बिना इन्द्रियादिके सहारे नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखने-वाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। 'कहीं-कहीं' जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियोंके सहारे होता है वे सब पीद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसंगमें जैनदर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा आदि स्वतन्त्र आत्माके धर्म हैं

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्रमें स्वयं चलने, अपने आपको टूटनेपर सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रों का आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिषविद्याका विकास, मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-बिरंगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्य-शाली द्रव्यका ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम परिणामका हमारे सामने है। अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तार-स्वभाववाला स्वभावतः अमूर्तिक द्रव्य मानने को प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

१. "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोगलो।"

—उद्धृत, धवला टी० प्र० पु०, पृष्ठ, ११८।

२८६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर भी देखनेकी शक्ति आँखमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही मानी जाती है और सूँघनेकी शक्ति नाकमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही, उसी तरह आत्माको व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुणोंका विकास माना जा सकता है ? परन्तु शरीरप्रमाण आत्मामें देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोंमें ही नहीं मानी गई है, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें। वह आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है, अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गंध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्म-संस्कारोंके कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्मशरीरका संपर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपमें लीन हो जाता है। उस समय इसके आत्मप्रदेश अन्तिम समयके आकार रह जाते हैं; क्योंकि उनके फँलने और सिकुड़नेका कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक ही है।

संसार अवस्थामें उसकी इतनी परतंत्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्तिका विकास बिना शरीर और इन्द्रियोंके सहारे नहीं कर सकता है। और तो जाने दोजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत शक्तिको भी उपयोगमें नहीं ला सकता। देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियायें जैसे इन्द्रियोंके बिना नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी बिना मनके नहीं हो पाते; और मनकी गति विधि समग्र शरीर-यन्त्रके चालू रहनेपर निर्भर करती है। इसी अत्यन्त परनिर्भरताके कारण जगत्के अनेक विचारक इसकी स्वतंत्र सत्ता माननेको भी प्रस्तुत नहीं हैं। वर्तमान शरीरके नष्ट होते ही जीवनभारका उपाजित ज्ञान, कला-कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूलरूपमें समाप्त हो जाती हैं। इनके अतिसूक्ष्म संस्कार-बीज ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजेपर पहुँचा देती हैं, कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला, स्वतंत्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतंत्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमें जुट जाना भौतिकयंत्रका काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ-बूझकर चले, यह असंभव है।

कर्त्ता और भोक्ता

आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता है। सांख्यकी तरह वह अकर्त्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृतिके द्वारा किये गए कर्मोंका भोक्ता ही। इस सर्वदा परिणामी जगत्में प्रत्येक पदार्थका परिणमन-चक्र प्राप्त सामग्रीसे प्रभावित होकर और अन्यको प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्माकी कोई भी क्रिया, चाहे वह मनसे विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीरकी प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीरमें और आसपासके वातावरणमें निश्चित असर डालती है। आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्रसे प्रमाणित की जा चुकी है। जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्तिके उठ जानेके बाद अमुक समय तक वहाँके वातावरणमें उस व्यक्तिका प्रतिबिम्ब कैमरेसे लिया गया है। विभिन्न प्रकारके विचारों और भावनाओंकी प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्कमें पड़ती हैं। यह भी प्रयोगोंसे सिद्ध किया जा चुका है।

चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर चैतन्य नष्ट हो जाता है। यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म चैतन्य माना जाता है; तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे

अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमलीको या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोंका प्रयोदता कोई पृथक् सूत्र-संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं, अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो; तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए बालकमें दूध पीने आदिकी चेष्टाएँ उसके पूर्वभवके संस्कारों को सूचित करती हैं। कहा भी है—

‘‘तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥’’

—उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४/८।

अर्थात्—तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत, राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

रागादि वातपित्तादिके धर्म नहीं

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्यके ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्योंके धर्म नहीं हैं, क्योंकि वातप्रकृतिवालेके भी पित्तजन्य द्वेष और पित्तप्रकृतिवालेके भी कफजन्य राग और कफ-प्रकृतिवालेके भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादिकी वृद्धिमें रागादिकी वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः इन्हें वात, पित्त आदिका धर्म नहीं माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हों तो सभी वातादि-प्रकृतिवालोंके समान रागादि होने चाहिये। पर ऐसा नहीं देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओंसे रागादिका क्षय नहीं होना चाहिये।

विचार वातावरण बनाते हैं

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थोंका स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करनेका है और वातावरणके अनुसार प्रभावित होनेका तथा वातावरणको भी प्रभावित करनेका है; तब इस बातके सिद्ध करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारोंका भौतिक जगत्पर क्या असर पड़ता है? हमारा छोटे-से छोटा शब्द ईश्वरकी तरंगोंमें अपने वेगके अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो-यन्त्रोंके द्वारा कानोंसे सुनी जा सकती है। और जहाँ प्रेषक रेडियो-यन्त्र मौजूद हैं, वहाँसे तो यथेच्छ शब्दोंकी निश्चित स्थानोंपर भेजा जा सकता है। ये संस्कार वातावरणपर सूक्ष्म और स्थूल रूपमें बहुत कालतक बने रहते हैं। कालकी गति उन्हें धुँधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रियासे आस-पासके वातावरणमें एक प्रकारकी खलबली मच जाती है, और उस विचारकी शक्तिके अनुसार वातावरणमें क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। जगत्के कल्याण और मंगल-कामनाके विचार चित्तको हलका और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके संस्कार वातावरणपर एक रोशनी डालते हैं, तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओंको अपने शरीरके भीतरसे ही, या शरीरके बाहरसे खींच लेते हैं। उन विचारोंके संस्कारोंसे प्रभावित उन पुद्गल द्रव्योंका सम्बन्ध अमुक काल-

१. ‘व्यभिचारान्न वातादिधर्मः, प्रकृतिसंकरात् ।’—प्रमाणवा० १।१५०।

तक उस आत्माके साथ बना रहता है। इसीके परिपाकसे आत्मा कालान्तरमें अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओंको पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्हीं विचारोंसे प्रभावित होकर खिचा या बँधा है, उसमें भी कालान्तरमें दूसरे-दूसरे विचारोंसे बराबर हेरफेर होता रहता है। अन्तमें जिस-जिस प्रकारके जितने संस्कार बचे रहते हैं; उस-उस प्रकारका वातावरण उस व्यक्तिको उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिबिम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भावसे होनेवाले प्रत्येक स्पन्दनके संस्कारोंको वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी क्रियाको हम 'प्रभाव' शब्दसे कहते हैं। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्तिको देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है? और क्यों अचानक किसी व्यक्तिको देखकर जी घृणा और क्रोधके भावोंसे भर जाता है? इसका कारण चित्तकी वह प्रतिबिम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखोंकी दूरबीनसे शरीरकी स्थूल दीवारको पार करके सामने-वालेके मनोभावोंका बहुत कुछ आभास पा लेती है। इसीलिए तो एक प्रेमीने अपने मित्रके इस प्रश्नके उत्तरमें कि "तुम मुझे कितना चाहते हो?" कहा था कि "अपने हृदयमें देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोरने प्रेमकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावोंमें बहने लगे वही प्रेम है और सौंदर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यों मुझे अच्छे लगते हो?' इसीलिए प्रेम और सौंदर्यकी भावनाओंके कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचारसे उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभावका परस्पर आदान-प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकारका भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेशमें गये पतिके ऊपर आपत्ति आनेपर पतिपरायणा नारीका सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्रके कारण होता है।

इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण बैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।

जैसी करनी वैसी भरनी

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंके द्वारा वातावरणसे उस पुद्गल परमाणुओंको खींच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप बना देता है, जिनके सम्पर्कमें आते ही वह फिर उसी प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थानमें किसी हत्यारेने दुष्टबुद्धिसे किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या की। मरते समय उसने जो शब्द कहे और चैष्टाएँ कीं वे यद्यपि किसी दूसरेने नहीं देखीं, फिर भी हत्यारेके मन और उस स्थानके वातावरणमें उनके फोटो बराबर अंकित हुए हैं। जब कभी भी वह हत्यारा शान्तिके क्षणोंमें बैठता है, तो उसके चित्तपर पड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखोंके सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानोंसे टकराते हैं। वह उस स्थानमें जानेसे घबड़ाता है और स्वयं अपनेमें परेशान होता है। इसीको कहते हैं कि 'पाप सिरपर चढ़कर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरेके प्रभावको स्थूल या सूक्ष्म रूपसे ग्रहण करता रहता है; और उन्हीं प्रभावोंकी औसतसे चित्र-विचित्र वातावरण और अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे मनोभावोंका सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीयमें घुल-मिल जाता है, और विजातीयसे संघर्ष

करता है। जहाँ हमारे विचारोंके अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब-करीब हमारी विचार-धाराके होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच-पच जाता है, किन्तु प्रतिकूल वातावरणमें चित्तको आकुलता-व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावेमें नहीं डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्तमें दूसरेके प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्तिमें सद्भावका संचार नहीं कर सकतीं और वातावरणको निर्मल नहीं बना सकतीं। इसके फलस्वरूप तुम्हें भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते हैं—‘जैसी करनी तैसी भरनी।’

हृदयसे अहिंसा और सद्भावनाका समुद्र कोई महात्मा अहिंसाका अमृत लिये क्यों खूँखार और बर्बारोंके बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्तपर विश्वास रहता है कि जब हमारे मनमें इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नहीं है और हम इन्हें प्रेमका अमृत पिलाना चाहते हैं तो ये कब तक हमारे सद्भावको ठुकरायेंगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्तिके लगातार अनादर करनेपर भी सच्चे हृदयसे सदा उसकी हित-चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खड़े हुए हैं जहाँ चारों ओर हमारे भीतर-बाहरके प्रभावको ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे हैं, और हमारी प्रत्येक क्रियाका लेखा-जोखा प्रकृतिकी उस महाबहीमें अंकित होता जाता है, जिसका हिसाब-किताब हमें हर समय भुगतना पड़ता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तरमें। पापकर्मा व्यक्ति स्वयं अपनेमें शंकित रहता है, और अपने ही मनोभावोंसे परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरणसे उसकी इष्टसिद्धि नहीं करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकारके व्यापारमें जुटते हैं, पर चारोंको अलग-अलग प्रकारका जो नफा-नुकसान होता है, वह अकारण ही नहीं है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणोंका निचोड़ उन-उन व्यक्तियोंके सफल, असफल या अर्धसफल होनेमें कारण पड़ जाते हैं। पुरुषकी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्भाव और प्रशस्त वातावरणका निर्माण करे। इसीके कारण वह जिनके सम्पर्कमें आता है उनकी सदबुद्धि और हृदयकी रक्षानको अपनी ओर खींच लेता है, जिसका परिणाम होता है—उसकी लौकिक कार्योंकी सिद्धिमें अनुकूलता मिलना। एक व्यक्तिके सदाचरण और सद्विचारोंकी शोहरत जब चारों ओर फैलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सम्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरणसे जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें यद्यपि परम्परासे व्यक्तिके पुराने संस्कारोंने काम लिया है; पर सीधे उन संस्कारोंने उन पदार्थोंको नहीं खींचा है। हाँ, उन पदार्थोंके जुटने और जुटानेमें पुराने संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्यके विपाकने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन-उन पदार्थोंका संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबलकी बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओंसे जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसीके तारतम्यसे मनुष्योंके इष्टा-निष्ठका चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्यका ठीक कार्यकारणभाव हमारी समझमें न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरणके क्रममें भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इहलोकका जीवन-व्यापार सब मिठाकर कारण बनते हैं।

नूतन शरीर धारणको प्रक्रिया

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीरको छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारों, वचन-व्यवहारों और शरीरकी क्रियाओंसे जिस-जिस प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कामंण-शरीरपर

पड़े हैं, अर्थात् कार्मण-शरीरके साथ उन संस्कारोंके प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्योंका जिस प्रकारके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनोंसे युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी प्रकारके अनुकूल परिणमनवाली परिस्थितिमें यह आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करनेका अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोड़नेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। इसीलिए जैन परम्परामें समाधिमरणको जीवनकी अन्तिम परीक्षाका समय कहा है; क्योंकि एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीरकी स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है। मरणकालकी इस उत्क्रान्तिको सम्हाल लेनेपर प्राप्त परिस्थितियोंके अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मोंमें हीनाधिकता होनेकी सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रोंमें एक मारणान्तिक समुद्घात नामकी क्रियाका वर्णन आता है। इस क्रियामें मरणकालके पहले इस आत्माके कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीरको छोड़कर भी बाहर निकलने हैं और अपने अगले जन्मके योग्य क्षेत्रको स्पर्शकर वापिस आ जाते हैं। इन प्रदेशके साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकारके रूप, रस, गंध और स्पर्श आदिके परिणमनोंका तारतम्य है, उस प्रकारके अनुकूल क्षेत्रकी ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसके जीवनमें सदा धर्म और सदाचारकी परम्परा रही है, उसके कार्मण शरीरमें प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओंकी बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होनेके कारण स्वभावतः प्रकाशमय लोककी ओर होता है। और जिसके जीवनमें हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्च्छा आदिके काले, गुरु और मैले परमाणुओंका सम्बन्ध विशेषरूपसे हुआ है, वह स्वभावतः अन्धकार-लोककी ओर नीचेकी तरफ जाता है। यही बात सांख्य शास्त्रोंमें—

“धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण ।”

—सांख्यका० ४४ ।

इस वाक्यके द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होता जाता है, और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपरमाणुओंका सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोंका कर्ता है और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूपको ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूपदर्शनके द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारोंको काटकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी-कभी किन्हीं विशेष आत्माओंमें स्वरूपज्ञानकी इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, कि उसके महाप्रकाशमें कुसंस्कारोंका पिण्ड क्षणभरमें ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीरको धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मगुणोंके घातक संस्कारोंका समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीरको धारण करनेमें कारण-भूत कुछ अघातिया संस्कार शेष रहते हैं, जो शरीरके साथ समाप्त हो जाते हैं; तब यह आत्मा पूर्णरूपसे सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोकके ऊपरी छोरमें जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोंमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निलिप्त नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या स्वाभाविक किसी भी अवस्थामें स्वयं बदलनेवाला है। यह निश्चित है कि एक बार

स्वाभाविक अवस्थामें पहुँचनेपर फिर वैभाविक परिणमन नहीं होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते हैं। उन्हें सृष्टि-कर्तृत्व आदिका कोई कार्य शेष नहीं रहता।

सृष्टिचक्र स्वयं चालित है

संसारी जीव और पुद्गलोंके परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग-वियोगोंसे इस सृष्टिका महाचक्र स्वयं चल रहा है। इसके लिए किसी नियंत्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशककी आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत्का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबलके अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक परिणमनके लिए किसी चेतन अधिष्ठाताकी नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाताके बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारण-सामग्रिके अनुसार होते रहते हैं। इस स्वभावतः परिणामी द्रव्योंके महासमुदायरूप जगत्को किसीने सर्व-प्रथम कियी समय चलाया हो, ऐसे कालकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए उस जगत्को स्वयंसिद्ध और अनादि कहा जाता है। अतः न तो सर्वप्रथम इस जगत्-यन्त्रको चलानेके लिए किसी चालककी आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवोंके पुण्य-पापका लेखा-जोखा रखनेवाले किसी महालेखककी, और अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभुकी ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूपमें उस व्यक्तिको अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर संसारके प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका संचालक बने और प्रत्येक जीवके अच्छे-बुरे कार्योंका भी स्वयं वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवोंके अच्छे-बुरे कर्मोंका न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गतिमें भेजे, उन्हें सुख-दुःख भोगनेको विवश करे यह कैसी क्रोड़ा है ! दुराचारके लिए प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत्की विषमस्थितिके लिए मूलतः वही जवाबदेह है। अतः इस भूल-भुलैयाके चक्रसे निकलकर हमें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ही जगत्का विवेचन करना होगा और उस आधारसे ही जब तक हम अपने ज्ञानको सच्चे दर्शनकी भूमिपर नहीं पहुँचायेंगे, तब तक तत्त्वज्ञानकी दिशामें नहीं बढ़ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवालेको भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है उसे भी; और जब हत्या हो जाती है, तो वही एकको हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्यमें स्वतन्त्र ही नहीं है, तब वह हत्याका कर्त्ता कैसे ? अतः प्रत्येक जीव अपने कार्योंका स्वयं प्रभु है, स्वयं कर्त्ता है और स्वयं भोक्ता है।

अतः जगत्-कल्याणकी दृष्टिसे और वस्तुके स्वाभाविक परिणमनकी स्थितिपर गहरा विचार करनेसे यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभावके कारण प्राप्त सामग्रिके अनुसार परिवर्तमान है। उसमें विभिन्न व्यक्तियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अच्छेपन और बुरेपनकी कल्पना होती रहती है। जगत् तो अपनी गतिसे चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्योंके परिणमन कहीं चेतनसे प्रभावित होते हैं, कहीं अचेतनसे प्रभावित और कहीं परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नियम नहीं है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

जीवोंके भेद संसारी और मुक्त

जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट होता है, कि यह जीव अपने संस्कारोंके कारण स्वयं बँधा है और अपने पुरुषार्थसे स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है, उसीके अनुसार जीव दो श्रेणियोंमें विभाजित हो

जाते हैं। एक संसारी—जो अपने संस्कारोंके कारण नाना योनियोंमें शरीरोंको धारणकर जन्म-मरण रूपसे संसरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त—जो समस्त कर्मसंस्कारोंसे छूटकर अपने शुद्ध चैतन्यमें सदा परिवर्तमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखाकी तरह अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावके कारण शरीरके बन्धनोंको तोड़कर लोकाग्रमें जा पहुँचता है, और वही अनन्तकाल तक शुद्धचैतन्यस्वरूपमें लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके आकारके समान बना रहता है; क्योंकि आगे उसके विस्तारका कारण नामकर्म नहीं रहता। जीवोंके प्रदेशोंका मंकोच और विस्तार दोनों ही कर्मनिमित्तसे होते हैं। निमित्तके हट जानेपर जो अन्तिम स्थिति है, वही रह जाती है। यद्यपि जीवका स्वभाव ऊपरकी गति करनेका है, किन्तु गति करनेमें सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोकके अन्तिम भाग तक ही है, अतः मुक्त जीवकी गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नहीं। इसीलिए सिद्धोंको 'लोकाग्रनिवासी' कहते हैं।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई हैं, अतः उनपर किसी दूसरे द्रव्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; और न वे परस्पर ही प्रभावित होती हैं। जिनका संसारचक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें संसारमें रलनेका कोई कारण शेष नहीं रहता। इगलए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीवकी 'संसार-यात्रा कबसे शुरू' हुई, यह नहीं बताया जा सकता; पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असंख्य जीवोंने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धोंके सभी गुणोंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य हैं, निरंजन हैं और केवल अपने शुद्धचित्परिणमनके स्वामी हैं। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थमें है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहनेपर भी कभी विकृत या नष्ट नहीं होती।

यह प्रश्न प्रायः उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एकसे रहते हैं, तो उनमें परिणमन माननेकी क्या आवश्यकता है?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्यकी मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और धौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्यको चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूल स्वभावका अपवाद कैसे माना जा सकता है? उसे तो अपने मूल स्वभावके अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूँकि उनके विभाव परिणमनका कोई हेतु नहीं है, अतः उनका सदा स्वभावरूपसे ही परिणमन होता रहता है। कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमनचक्रसे बाहर नहीं जा सकता। 'तब परिणमनका क्या प्रयोजन?' इसका सीधा उत्तर है—'स्वभाव'। चूँकि प्रत्येक द्रव्यका यह निज स्वभाव है, अतः उसे अनन्तकाल तक अपने स्वभावमें रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुणके कारण न कम होता है और न बढ़ता है। वह परिणमनकी तीक्ष्ण धारपर चढ़ा रहनेपर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नहीं होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है, और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अगुरुलघुगुणके कारण उसके न तो प्रदेशोंमें हो न्यूनाधिकता होती है, और न गुणोंमें ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्धका स्वरूप निम्नलिखित गायामे बहुत स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

“णिकम्ममा अट्टगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पादवएहि संजुत्ता ॥”

—नियमसार गा० ७२

अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणोंसे युक्त हैं। अपने पूर्व अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित हैं।

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारोंमें विभाजित होकर भी मूल स्वभावसे समान गुण और समानशक्तिवाला है ।

पुद्गल द्रव्य

‘पुद्गल’ द्रव्यका सामान्य लक्षण^१ है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त होना । जो द्रव्य स्कन्ध अवस्थामें पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओंका बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह ‘पुद्गल’ कहलाता है । समस्त दृश्य जगत् इस ‘पुद्गल’ का ही विस्तार है । मूल दृष्टिसे पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है । अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है । स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओंकी संयुक्त पर्याय है । वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंधशक्तिसे शिथिल या निबिड़रूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं । इन स्कन्धोंका बनाव और बिगाड़ परमाणुओंकी बंधशक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है ।

प्रत्येक^२ परमाणुमें स्वभावसे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं । लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप परमाणुमें होता है जो बदलता भी रहता है । तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस परमाणुमें होता है, जो परिवर्तित भी होता रहता है । सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध परमाणुमें अवश्य होती है । शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलोंमेंसे कोई एक-एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्णमेंसे एक और स्निग्ध तथा रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणुमें अवश्य होते हैं । बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध-अवस्थाके हैं । परमाणु-अवस्थामें ये नहीं होते । यह एकप्रदेशी होता है । यह स्कन्धोंका कारण भी है और स्कन्धोंके भेदसे उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्य भी है । पुद्गलकी परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है, और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है ।

स्कन्धोंके भेद

स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकारके होते हैं^३ :—

(१) अतिस्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें, वे लकड़ी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल-स्थूल हैं ।

(२) स्थूल (बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जायें, वे स्थूल स्कन्ध हैं । जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि ।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—जो स्कन्ध दिखनेमें तो स्थूल हों, लेकिन छेदने-भेदने और ग्रहण करनेमें न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध हैं ।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—जो सूक्ष्म होकरके भी स्थूल रूपमें दिखें, वे पाँचों इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं ।

१. “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः”—तत्त्वार्थसू० ५।२३ ।

२. “एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।” —पंचास्तिकाय गा० ८१ ।

३. “अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादिगं होइ छब्भेयं ॥”

२६४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

(५) सूक्ष्म—जो सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्मवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शास्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है—यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

स्कन्ध आदि चार भेद

पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और स्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन^२ हैं।

बन्धकी प्रक्रिया

इन परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध^३ होता है, जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके शक्त्यंशकी अपेक्षा असंख्य भेद होते हैं, और उनमें तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्त्यंश (जघन्यगुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंका परस्पर बन्ध (रासायनिक मिश्रण) नहीं होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष, तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओंमें बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणोंके शक्त्यंश दो अधिक हों, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुसे होगा। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपसे परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पाँच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक, पञ्चाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते हैं। महास्कन्धोंके भेदसे भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनोंसे बनते हैं। स्कन्ध अवस्थामें परमाणुओंका परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़ी-सी जगहमें असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रूई और एक सेर लोहेमें साधारणतया परमाणुओंकी संख्या बराबर होनेपर भी उनके निविड और शिथिल बन्धके कारण रूई थुलथुली है और लोहा ठोस। रूई अधिक स्थानको रोकती है और लोहा कम स्थानको। इन पुद्गलोंके इसी सूक्ष्म परिणमनके कारण असंख्यातप्रदेशो लोकमें अनन्तानन्त परमाणु समाए हुए हैं। जैसा कि पहले

१. 'खंधा या खंधेसा खंधपदेसा य होति परमाणू ।

इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥'

—पञ्चास्तिकाय गा० ७४-७५ ।

२. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५/१९ ।

३. "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः । न जघन्यगुणानाम् । गुणसाम्ये सदृशानाम् । द्व्यधिकदिगुणानां तु । बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।३३-३७ ।

लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमनके अप्रवाह नहीं हैं और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल-बादरादि स्कन्धोंके रूपमें बनते-बिगड़ते रहते हैं।

शब्द आदि पुद्गलकी पर्याय हैं

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। शब्दको वैशेषिक आदि आकाशका गुण मानते हैं, किन्तु आजके विज्ञानने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रोंसे शब्दको पकड़कर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गलके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे वारण किया जाता है, पुद्गलोंसे रुकता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पदोंको फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है, अतः पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग, संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदिके संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं।

जब दो स्कन्धोंके संघर्षसे कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पासके स्कन्धोंको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्तसे उन स्कन्धोंमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलाशयमें एक कंकड़ डालने पर जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्तिके पासके जलको क्रमशः तरंगित करती जाती है और यह 'वीचीतरंगन्याय' किसी-न-किसी रूपमें अपने वेगके अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

शब्द शक्तिरूप नहीं है

शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य-स्कन्ध है, जो वायु स्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आसपासके वातावरणको झनझता जाता है। यन्त्रोंसे उसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहरको सुदूर देशसे पकड़ा जा सकता है। वक्ताके तालु आदिके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक शब्द मुखसे बाहर निकलते ही चारों तरफके वातावरणको उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशामें जाता है और जाते-जाते, शब्दसे शब्द पैदा करता जाता है। शब्दके जानेका अर्थ पर्यायवाले स्कन्धका जाना है और शब्दकी उत्पत्तिका भी अर्थ है आसपासके स्कन्धोंमें शब्दपर्यायका उत्पन्न होना। तात्पर्य यह कि शब्द स्वयं द्रव्यकी पर्याय है, और इस पर्यायके आधार हैं पुद्गल स्कन्ध। अमूर्तिक आकाशके गुणमें ये सब नाटक नहीं हो सकते। अमूर्त द्रव्यका गुण तो अमूर्त ही होगा, वह मूर्तके द्वारा गृहीत नहीं हो सकता।

विश्वका समस्त वातावरण गतिशील पुद्गलपरमाणु और स्कन्धोंसे निर्मित है। उसीमें परस्पर संयोग आदि निमित्तोंसे गर्मी, सर्दी, प्रकाश, अन्धकार, छाया आदि पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट होती रहती हैं। गर्मी, प्रकाश और शब्द ये केवल शक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी-न-किसी आधारमें रहेंगी और उनका आधार है—यह पुद्गल द्रव्य। परमाणुकी गति एक समयमें लोकान्त तक (चौदह राजु) हो सकती है, और वह गतिकालमें आसपासके वातावरणको प्रभावित करता है। प्रकाश और शब्दकी गतिका जो लेखा-जोखा आजके विज्ञानने लगाया है, वह परमाणुकी इस स्वाभाविक गतिका एक अल्प अंश है। प्रकाश और गर्मीके स्कन्ध एकदेशसे सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग (force)

१. “शब्दबन्धसौदम्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।”

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४

२९६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

के अनुसार वातावरणको प्रकाशमय और गर्मी पर्यायसे युक्त बनाते हुए जाते हैं। यह भी संभव है कि जो प्रकाश आदि स्कन्ध बिजलीके टार्च आदिसे निकलते हैं, वे बहुत दूर तक स्वयं चले जाते हैं और अन्य गतिशील पुद्गल स्कन्धोंको प्रकाश, गर्मी या शब्दरूप पर्याय धारण कराके उन्हें आगे चला देते हैं। आजके वैज्ञानिकोंने बेतारका तार और बिना तारके टेलीफोनका भी आविष्कार कर लिया है। जिस तरह हम अमेरिकामें बोले गये शब्दोंको यहाँ सुन लेते हैं, उसी तरह अब बोलनेवालेके फोटोको भी सुनते समय देख सकेंगे।

पुद्गलके खेल

यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदिका परिवहन तीव्र गतिशील पुद्गल-स्कन्धोंके द्वारा ही हो रहा है। परमाणु-बमकी विनाशक शक्ति और हाँड्रोजन बमकी महाप्रलय शक्तिसे हम पुद्गलपरमाणुकी अनन्त शक्तियोंका कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

एक दूसरेके साथ बैधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि सभी कुछ पुद्गल स्कन्धोंकी पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनवाले अनन्तानन्त परमाणुओंके परस्पर संयोग और विभागेसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रंगमञ्चपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। ये सब माया या अविद्या नहीं हैं, ठोस सत्य हैं। स्वप्नकी तरह काल्पनिक नहीं हैं, किन्तु अपनेमें वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञानने एटममें जिन इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉनको अविराम गतिसे चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमें बैधे हुए परमाणुओंका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारण-सामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुषकी कितनी-सी शक्ति ! वह कहाँ तक इन द्रव्योंके परिणमनोंको प्रभावित कर सकता है ? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ-बूझ और शक्तिके अनुसार वह यन्त्रोंके द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गलका नियन्त्रण पौद्गलिक साधनोंसे ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अतः हमें द्रव्यकी मूल स्थितिके आधारेसे ही तत्त्वविचार करना चाहिये और विश्वव्यवस्थाका आधार ढूँढ़ना चाहिए।

छाया पुद्गलकी ही पर्याय है

सूर्य आदि प्रकाशयुक्त द्रव्यके निमित्तसे आस-पास पुद्गलस्कन्ध भासुरूपको धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। इसी प्रकाशकी जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगहके स्कन्ध काले रूपको धारण कर लेते हैं, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्गल द्रव्यके खेल हैं। केवल मायाकी आँखमिचौनी नहीं है और न 'एकोऽहं बहु स्याम्' की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्गल परमाणुओंकी अविराम गति और परिणतिके वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूँदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशालामें रासायनिक प्रक्रियासे किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्गलाणुओंमें समान अनन्त शक्ति है, फिर भी विभिन्न स्कन्धोंमें जाकर उनकी शक्तियोंके भी जुदे-जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणुमें सामान्यतः मादकशक्ति होनेपर भी उसकी प्रकटताकी योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदिके स्कन्धोंमें ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादिके रासायनिक मिश्रणसे। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन-उन स्थूल पर्यायोंमें प्रकट होती हैं। और इन स्थूल पर्यायोंके घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्थामें विशिष्ट शक्तिको धारण करते हैं।

एक ही पुद्गल मौलिक है

आधुनिक विज्ञानने पहले ९२ मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्तिके अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्वका अर्थ होता है—‘एक तत्त्वका दूसरे रूप न होना।’ परन्तु अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपनेमें चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रॉन और प्रोटोनकी संख्याके भेदसे ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओंको धारण कर लेता है। ऑक्सीजनके अमृक इलेक्ट्रॉन या प्रोटोनको तोड़ने या मिलानेपर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्वकी अवस्था-विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल अणु (Atom) है।

पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

नैयायिक-वैशेषिक पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों गुण, जलके परमाणुओंमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण; अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायुमें केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारोंको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्षसे सीपमें पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है, पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती हैं, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? जैनदर्शनने पहलेसे ही समस्त पुद्गलपरमाणुओंका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेषमें कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्योंमें उन गुणोंका अभाव नहीं माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि ‘जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होंगे।’ इसी तरह जिन दो पदार्थोंका एक-दूसरेके रूपसे परिणमन हो जाता है वे दोनों पृथक्-जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आजके विज्ञानको अपने प्रयोगोंसे उसी एकजातिक अणुवादपर आना पड़ा है।

प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्दको अभी केवल (Energy) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी-न-किसी ठोस आधारमें रहनेवाली ही सिद्ध होगी; क्योंकि शक्ति या गुण निराश्रय नहीं रह सकते। उन्हें किसी-न-किसी मौलिक द्रव्यके आश्रयमें रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती हैं, उन माध्यमोंको स्वयं उस रूपसे परिणत कराती हुई ही जाती हैं। अतः यह प्रश्न मनमें उठता है कि जिसे हम शक्तिकी गति कहते हैं वह आकाशमें निरन्तर प्रचित परमाणुओंमें अविराम गतिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपरंपरा ही तो नहीं है? हम पहले बता आये हैं कि शब्द, गर्मी और प्रकाश किसी निश्चित दिशाको गति भी कर सकते हैं और समीपके वातावरणको शब्दाद्यमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्ययस्वभावके कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मीको इन्हीं परमाणुओंकी पर्याय माननेमें ही वस्तुस्वरूपका संरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थोंमें पुद्गल द्रव्योंकी जिन—कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, आदि रूपसे—२३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन मिलता है,^१ वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। एक ही पुद्गलजातीय

१. देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३-९४।

२९८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

स्कन्धोंमें ये विभिन्न प्रकारके परिणमन, विभिन्न सामग्रीके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोंमें बन जाते हैं। यह नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए हैं; वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे, या अन्य-परमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध-अवस्थामें विकसित शक्तिभेदके कारण हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओंके अनुसार, जैसी-जैसी सामग्रीका जुटाव हो जाता है, वैसा-वैसा प्रत्येक परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर-अवस्थाके नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्युके बाद शरीरके खाक हो जानेपर अन्य विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्योंमें किसी भी द्रव्यशक्तिके परिणमनोंका बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्यायको प्राप्त पुद्गलोंसे साक्षात् हो सकते हैं, किसीसे नहीं। जैसे मिट्टी-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु ही घट-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, अग्नि-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु नहीं, यद्यपि अग्नि और घट दोनों ही पुद्गलकी ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्निके परमाणु कालान्तरमें मिट्टी बन जायें और फिर घड़ा बनें; पर सीधे अग्निसे घड़ा नहीं बनाया जा सकता। मूलतः पुद्गलपरमाणुओंमें न तो किसी प्रकारका जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकार-भेद ही। ये सब भेद तो बीचकी स्कन्ध पर्यायोंमें होते हैं।

गतिशीलता

पुद्गल परमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। उसमें वजन भी होता है, किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्थामें होती है। इन स्कन्धोंमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्थाभेदके कारण सम्भव होते हैं। इस तरह यह अणु-जगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पड़ावमें पुरुषका प्रयत्न इनके परिणमनोंको कुछ कालतक किसी विशेष रूपमें प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीचमें होनेवाली अनेक अवस्थाओंका अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते हैं, वे भी इन द्रव्योंकी मूल-योग्यताओंके ही आधारसे किये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य

अनन्त आकाशमें लोकके अमुक आकारको निश्चित करनेके लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधारपर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलोंका गमन वहीं तक हो सके; बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अतः उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवोंका गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाशद्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेशभेद होकर भी स्वभावभेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गतिस्वभाववाले हैं, अतः यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकनेका प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नहीं चलाता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है पर लोककी सीमाओंपर नियन्त्रणके रूपमें है। सीमाओंपर पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करनेको विवश हैं, उसके आगे नहीं जा सकते।

जिस प्रकार गतिके लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है; उसी तरह जीव और पुद्गलों-की स्थितिके लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है—अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाशके बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित—अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखनेवाले अनन्त अगुरुलघुगुणोंसे उत्पाद-व्यय करता हुआ ठहरनेवाले जीव-पुद्गलोंकी स्थितिमें साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्वका पता भी लोककी सीमाओंपर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थितिके लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोकका विभाग ही इनके सद्भावका अचूक प्रमाण है।

यदि आकाशकी ही स्थितिका कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोकमें भी मौजूद है। वह चूँकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोकके बाहरके पदार्थोंकी स्थितिमें कारण नहीं हो सकता; तो लोकके भीतर भी उसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थितिके साधारण कारणके रूपमें अधर्मद्रव्यका पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पापके पर्यायवाची नहीं हैं—स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं, अतः बहुप्रदेशी होनेके कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूपमें भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्यके मूल परिणामी-स्वभावके अनुसार पूर्व पर्यायको छोड़ने और उत्तर पर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

आकाश द्रव्य

समस्त जीव-अजीवादि द्रव्योंको जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्योंमें भी परस्पर हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तनमें पानी आदिका, फिर भी समस्त द्रव्योंको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य भागमें चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाशके रूपमें विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशोंमें है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्यका गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्यका स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

इसी आकाशके प्रदेशोंमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तियाँ सब तरफ कपड़ेमें तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारोंसे 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुतसे स्वतन्त्र द्रव्योंकी कल्पना करनी पड़ेगी।

३०० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

शब्द आकाशका गुण नहीं

आकाशमें शब्द गुणकी कल्पना भी आजके वैज्ञानिक प्रयोगोंने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें उसे पौद्गलिक सिद्ध कर आये हैं। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियोंसे गृहीत होता है पुद्गलोंसे टकराता है, पुद्गलोंसे रोका जाता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गलोंमें भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुणके आधारके रूपमें आकाशका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न 'पुद्गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्यके मूर्त और अमूर्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।

आकाश प्रकृतिका विकार नहीं

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसीके पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं। परन्तु विचारणीय बात यह है कि—एक प्रकृतिका घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्योंके आकारमें ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है, क्योंकि संसारके अनन्त रूपी भौतिक कार्योंकी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समानजातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किञ्चित् समानता होनेके कारण कार्योंका एक कारणसे उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जडत्व आदिके रूपसे समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि और आकाशको एक प्रकृतिका परिणमन मानना ब्रह्मवादकी मायामें ही एक अंशसे समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंको एक ब्रह्मका विवर्त मानता है, और ये सांख्य समस्त जड़ोंको एक जड़ प्रकृतिकी पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्वका अन्वय होनेसे सब एक त्रिगुणात्मक कारणसे समुत्पन्न हैं, तो आत्मत्वका अन्वय सभी आत्माओंमें पाया जाता है, और सत्ताका अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थोंमें पाया जाता है; तो इन सबको भी एक 'अद्वैतसत्' कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनोंसे विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड़चेतन और मूर्त-अमूर्त आदि विविध पदार्थोंमें अनेक प्रकारके पर-अपर सामान्योंका सादृश्य देखा जाता है, पर इतनेमात्रसे सब एक नहीं हो सकते। अतः आकाश प्रकृतिकी पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपनेमें जो अन्य पुद्गलादि द्रव्योंको अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्धके कारण बनता है। अन्ततः जलादिके भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाशसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका गति और स्थितिरूप काम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्योंकी गति और स्थितिमें निमित्त हो जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नहीं बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्तमें ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाशमें ऊपरकी ओर उड़ते रहेंगे। अतः आकाशको गमन और स्थितिमें साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्योंकी भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्यलक्षणसे युक्त

है, और इसमें प्रतिक्षण अपने अशुभ-लघु गुणके कारण पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः यह भी परिणामीनित्य है।

आजका विज्ञान प्रकाश और शब्दकी गतिके लिए जिस ईथररूप माध्यमकी कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त-द्रव्योंकी गतिका अन्तरंग आधार अमूर्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाशके अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि जो आकाशका भाग काशीमें है, वही पटना आदिमें नहीं है, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्रमें आ जायेंगे।

बौद्ध-परम्परामें आकाशका स्वरूप

बौद्ध-परम्परामें आकाशको असंस्कृत धर्मोंमें गिनाया है और उसका 'वर्णन'¹ 'अनावृति' (आवरणा-भाव) रूपसे किया है। यह किसीको आवरण नहीं करता और न किसीसे आवृत होता है। संस्कृतका अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जायें। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्धका, आकाशको असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्मसे रहित मानना कुछ समझमें नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूपसे किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकोंके² विवेचनसे सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धके मतसे उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादिका हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादिसे इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मसंगह'³ में आकाशधातुको परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतोंकी तरह निष्पन्न नहीं होता, किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओंके परिच्छेद-दर्शनमात्रसे इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अतः वह उत्पादादि लक्षणोंसे युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

कालद्रव्य

समस्त द्रव्योंके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमें घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोंमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योंकी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेश-पर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुक्षेत्रमें दिन, रात आदिका पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानोंके कालभेदके कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य माननेपर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्योंमें परत्व-अपरत्व (लहुरा-जेठ) आदि व्यवहार कालसे ही होते हैं। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी कालकी क्रमिक पर्यायोंसे होते हैं। किसी भी पदार्थके परिणमनको अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना कालकी अपेक्षा-से ही हो सकता है।

१. "तत्राकाशमनावृतिः"—अभिधर्मकोश १।५।

२. "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।"—अभिधर्मकोश १।२८।

वैशेषिककी मान्यता

वैशेषिक कालको एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्यमें जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्तसे अन्य पदार्थोंमें अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं ? किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी समयमें हो तो होता है। बिना समयके उस परिणमनको अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेशपर विभिन्न द्रव्योंके जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समयपर्यायोंके समुदायमें हम घड़ी, घंटा आदि स्थूल कालका नाप बनाते हैं। अलोकाकाशमें जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती कालके कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाशमें होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाशमें ही होता है। काल एकप्रदेशी होनेके कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्योंकी ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परामें कुछ आचार्य कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

बौद्ध-परम्परामें काल

बौद्ध-परम्परामें काल केवल व्यवहारके लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्ठशालिनी १।३।१६)। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य कालके बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालकमें शेरका उपचार मुख्य शेरके सद्भावमें ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्यके बिना नहीं बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छःद्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षणका अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हों या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षणसे हर समय संयुक्त रहते हैं।

वैशेषिककी द्रव्यमान्यताका विचार

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदिक चार द्रव्य तो 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-वत्त्व' इस सामान्य लक्षणसे युक्त होनेके कारण पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह यथासम्भव जीव और पुद्गलकी ही पर्याय है। मन दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्माकी विचार करनेमें सहायता देनेवाले पुद्गल-परमाणुओंका स्कन्ध है। शरीरके जिस-जिस भागमें आत्माका उपयोग जाता है; वहाँ-वहाँके शरीरके परमाणु भी तत्काल मनरूपसे परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय-प्रदेशमें अष्टदल कमलके आकारका द्रव्यमन होता है, जो हिताहितके विचारमें आत्माका उपकरण बनता है। विचार-शक्ति आत्माकी है। अतः भावमन आत्मरूप ही होता है। जिस प्रकार भावेन्द्रियाँ आत्माकी ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाली आत्माकी एक विशेष शक्ति है; अतिरिक्त द्रव्य नहीं।

१. "द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकम्" "मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।"

—तत्त्वार्थवा० ५।१९।

बौद्ध-परंपरामें हृदय-वस्तुको एक पृथक् धातु माना है^१, जो कि द्रव्यमनका स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में^२ छह ज्ञानोंके समानान्तर कारणभूत पूर्वज्ञानको मन कहा है। यह भावमनका स्थान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मनकी सहायताके बिना अपने विषयोंका ज्ञान नहीं कर सकतीं, परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मनका कोई निश्चित विषय नहीं है, अतः वह सर्वविषयक होता है।

गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं

वैशेषिकने द्रव्यके सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिककी मान्यता प्रत्ययके आधारसे चलती है। चूँकि 'गुणः गुणः' इस प्रकारका प्रत्यय होता है, अतः गुण एक पदार्थ होता चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्ययके कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्ययसे पर और अपर रूपसे अनेक प्रकारके सामान्य माने गये हैं। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापनके लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओंमें, शुद्ध आत्माओंमें, तथा मुक्त आत्माओंके मनोमें परस्पर विलक्षणताका बोध करानेके लिए प्रत्येक नित्य द्रव्यपर एक विशेष पदार्थ माना गया है। कार्यात्पत्तिके पहले वस्तुके अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्तिके बाद होनेवाला विनाश प्रध्वंसाभाव है। परस्पर पदार्थोंके स्वरूपका अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक संसर्गका निषेध करनेवाला अत्यन्ताभाव होता है। इस तरह जितने प्रकारके प्रत्यय पदार्थोंमें होते हैं, उतने प्रकारके पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। वैशेषिकको 'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्ययके आधारसे पदार्थकी कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचारकर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। द्रव्यके स्वरूपसे बाहर गुणादिकी कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यका लक्षण है^३ गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणोंका आत्मासे तथा रूपादि गुणोंका पुद्गलसे पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है, और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणीको, क्रिया और क्रियावान्को, सामान्य और सामान्यवान्को, विशेष और नित्य द्रव्योंको स्वयं वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते हैं, अर्थात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण आदिको छोड़कर द्रव्यकी अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्यके बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कहीं "गुणसन्द्रावो द्रव्यम्" यह भी द्रव्यका लक्षण मिलता है^४।

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय है उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्यकी पर्याय है, स्वतंत्र नहीं है। क्रिया या कर्म क्रियावान्से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही हैं। कोई एक, नित्य और

१. "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोरश्रयं कल्पयन्ति ।"

—स्फुटार्थ अभि०, पृ० ४९।

२. "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः ।"—अभिधर्मकोश १। १७।

३. "गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

४. "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति ।"—पात० महाभाष्य ५। १। ११९।

३०४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

व्यापक सामान्य अनेक द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ नहीं है। जिन द्रव्योंमें जिस रूपसे सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्योंका वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नहीं है, किन्तु सादृश्य रूपसे वस्तुनिष्ठ है; और वस्तुकी तरह ही उत्पादविनाशध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थोंकी ही पर्याय है। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामें माननेका यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्माकी ही सम्पत्ति है, आत्मासे भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंकी अवस्थारूप ही हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थोंमें होनेवाला संयोग भी दोमें न रहकर प्रत्येकमें रहता है, इसका संयोग उसमें और उसका संयोग इसमें। याने संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दोके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

विशेष पदार्थको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब सभी द्रव्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्वके कारण ही हो सकता है। जिस प्रकार विशेष पदार्थोंमें विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करनेके लिए अन्य विशेष पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं उनके स्वरूपसे ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्योंके निजरूपसे ही विलक्षणप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्यकी पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निज-स्वरूप अन्योन्याभाव है और असंसर्गिरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपनेमें कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। एक द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थिर होना ही उसमें पररूपका अभाव है। एक ही द्रव्यकी दो भिन्न पर्यायोंमें परस्पर अभाव-व्यवहार कराना इतरेतराभावका कार्य है और दो द्रव्योंमें परस्पर अभाव अत्यन्ताभावसे होता है। अतः गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। भिन्न प्रत्ययके आधारसे ही यदि पदार्थोंकी व्यवस्था की जाय; तो पदार्थोंकी गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्यको अवयवोंसे जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकारमें परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते हैं। कोई अलग पट नामका अवयवी तन्तु नामक अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता हो, यह अनुभवगम्य नहीं है; क्योंकि पट नामके अवयवीकी सत्ता तन्तुरूप अवयवोंसे भिन्न कहीं भी और कभी भी नहीं मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नहीं। जिन मिट्टीके परमाणुओंसे घड़ा बनता है, वे परमाणु स्वयं घड़ेके आकारको ग्रहण कर लेते हैं। घड़ा उन परमाणुओंकी सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा नहीं है कि घड़ा पृथक् अवयवी बनकर कहींसे आ जाता हो, किन्तु मिट्टी के परमाणुओंका अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकारमें क्रमबद्ध परिणमनोंकी औसतसे ही घटके रूपमें हो जाता है और घटव्यवहारकी संगति बैठ जाती है। घट-अवस्थाको प्राप्त परमाणुद्रव्योंका अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्थामें बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घटके अमुक-अमुक हिस्सोंमें रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदिका अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखनेपर भी सामुदायिक समान परिणमनकी धारामें अपने व्यक्तित्व-गत परिणमनको विलीन-सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमनकी धारा अवयवभूत परमाणुओंमें चालू रहती है, तब तक उस पदार्थकी एक-जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे-जैसे उन परमाणुओंमें सामुदायिक धारासे असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे-वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्तिमें न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूपसे विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलतः गुण और पर्यायोंका आधार जो होता है वही

द्रव्य कहलाता और उसीकी सत्ता द्रव्यरूपमें गिनी जाती है। अनेक द्रव्योंके समान या असमान परिणमनोंकी औसतसे जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्यकी संज्ञा नहीं पा सकते।

जिन परमाणुओंसे घट बनता है उन परमाणुओंमें घट नामके निरंश अवयवीकी स्वीकार करनेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—निरंश अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है, या सर्वात्मना? यदि एकदेशसे रहता है; तो जितने अवयव हैं, उतने ही देश अवयवीके मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायेंगे। यदि अवयवी निरंश है; तो वस्त्रादिके एक हिस्सेको ढँकनेपर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिये और एक अवयवमें क्रिया होनेपर पूरे अवयवोंमें क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त है; तो चार छटाँक सूतसे तैयार हुए वस्त्रका वजन बढ़ जाना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। वस्त्रके एक अंशके फट जानेपर फिर उतने परमाणुओंसे नये अवयवीकी उत्पत्ति माननेमें कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है, क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़का उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवीकी उत्पत्ति मानना पड़ेगी।

वैशेषिकका आठ, नव, दस आदि क्षणोंमें परमाणुकी क्रिया, संयोग आदि क्रमसे अवयवीकी उत्पत्ति और विनाशका वर्णन एक प्रक्रियामात्र है। वस्तुतः जैसे-जैसे कारणकलाप मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे उन परमाणुओंके संयोग और वियोगसे उस-उस प्रकारके आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओंसे लेकर घट तक अनेक स्वतंत्र अवयवियोंकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रक्रियासे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्यका उत्पाद और उसका सदाके लिए विनाश वस्तुसिद्धान्तके प्रतिकूल है। यह तो संभव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन-उन परमाणुओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार होते हुए पूर्ण कलश-अवस्थामें घटव्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्यके उत्पाद बात नहीं है, और तब वजन बढ़नेकी बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नहीं कर सकता और घटमें जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रासे उसे पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। ये तो परमाणुओंके विशिष्ट संगठनके कार्य हैं; जो उस प्रकारके संगठन होनेपर स्वतः होते हैं। एक परमाणु आँखसे नहीं दिखाई देता, पर अमुक परमाणुका समुदाय जब विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षताके कारण परमाणुओंके अनेक प्रकारके सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढ़ता और शिथिलताके अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध-अवस्थामें चूँकि परमाणुओंका स्वतन्त्र द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, अतः उन-उन हिस्सोंके परमाणुओंमें पृथक् रूप और रसादिका परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपड़ा किसी हिस्सेमें अधिक मैला, किसीमें कम मैला और किसीमें उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूपसे परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु-अवस्थाको छोड़कर स्कन्ध-अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। यह स्कन्ध-अवस्था किसी नये द्रव्यकी नहीं, किन्तु उन सभी परमाणुओंकी अवस्थाओंका योग है। यदि परमाणुओंको सर्वथा पृथक् और सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखोंसे नहीं दिखाई देता उसी तरह सैकड़ों परमाणुओंके अति-समीप रखे रहनेपर भी, वे इन्द्रियोंके गोचर नहीं हो सकेंगे। अमुक स्कन्ध-अवस्थामें आनेपर उन्हें अपनी अदृश्यताको त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तुकी मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवोंके दृढ़ और शिथिल बंधके ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहेके स्कन्धकी अवस्थाको प्राप्तकर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जबकि रूई अवस्थामें मृदु और अचिर-

स्थायी रहते हैं। यह सब तो उनके बन्धके प्रकारोंसे होता रहता है। यह तो समझमें आता है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु-द्रव्यमें पुद्गलकी सभी शक्तियाँ हों, और विभिन्न स्कन्धोंमें उनका न्यूनाधिकरूपमें अनेक तरहका विकास हो। घटमें ही जल भरा जाता है कपड़ेमें नहीं, यद्यपि परमाणु दोनोंमें ही हैं और परमाणुओं-से दोनों ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन-अवस्थामें शीतल होते हैं और वे ही जब अग्निका निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियोंकी आगकी तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्योंके परस्पर न्यूनाधिक सम्बन्धसे होनेवाले परिणमनोंकी न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्यायकी एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनोंपर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओंमें समानपर्याय होती रहेगी, तब तक वह वस्तु एक-सो रहेगी और ज्यों ही कुछ परमाणुओंमें परिस्थितिके अनुसार असमान परिणमन शुरू होगा; तैसे ही वस्तुके आकार-प्रकारमें विलक्षणता आती जायगी। आजके विज्ञानसे जल्दी सड़नेवाले आलूकी बरफमें या बद्धवायु (Airtite) में रखकर जल्दी सड़नेसे बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल-परमाणुओंके आकार और प्रकारकी स्थिरता या अस्थिरताकी कोई निश्चित जवाबदारी नहीं ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरणपर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे-चोड़े स्कन्धके अमुक भागके कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्वकी कायम रखनेवाली परिणतिकी स्वीकार नहीं करते हैं तो उस भागमें तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करनेके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओंका परस्पर एकरस मिलाव हुआ है या नहीं। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओंको सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्यायका विकास ही न हो सके।

अवयवीका स्वरूप

यदि बौद्धोंकी तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंका पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूपसे प्रतिभासित होता है, यह माना जाय; तो बिना सम्बन्धके तथा स्थूल आकारकी प्राप्तिके बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूपसे कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नहीं है, किन्तु प्रकृतिकी प्रयोग-शालामें होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण है, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्थाको धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' (पृ० १९५) में यह स्वीकार किया है कि परमाणुओंमें विशिष्ट अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेसे वे स्थूलरूपमें इन्द्रियग्राह्य होते हैं, तो भी जब सम्बन्धका निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्थाप्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है? अन्ततः उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग और अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं। इस प्रकारकी परिणतिके माने बिना बालूके पुञ्जने घटके परमाणुओंके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं बताई जा सकती। परमाणुओंमें जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण अमुक प्रकारके रासायनिक बन्धके रूपमें सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध-अवस्थाको धारण कर सकते हैं; केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होनेके कारण ही नहीं। यह ठीक है कि उस प्रकारका बन्ध होनेपर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर नई अवस्था तो उत्पन्न होती ही है, और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण संयोगसे जन्य नहीं है, किन्तु विशेष प्रकारके उभयपारिणामिक रासायनिक बन्धसे उत्पन्न होती है। परमाणुओंके संयोग-सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं—कहीं मात्र प्रदेशसंयोग होता है, कहीं निविड, कहीं शिथिल और कहीं रासायनिक बन्धरूप।

बन्ध-अवस्थामें ही स्कन्धकी उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्धको चाक्षुष बननेके लिए दूसरे स्कन्धके विशिष्ट संयोगकी उस रूपमें आवश्यकता है, जिस रूपसे वह उसकी सूक्ष्मताका विनाशकर स्थूलता ला सके; यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्थाका त्यागकर स्थूल अवस्थाको धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है। प्रत्येक परमाणुमें अखण्डता और अविभागिता होनेपर भी यह खुशी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचकके कारण वे एक दूसरेको स्थान दे देते हैं, और असंख्य परमाणु मिलाकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभावके कारण थोड़ी-सी जगहमें समा जाते हैं। परमाणुओंकी संख्याका अधिक होना ही स्थूलताका कारण नहीं। बहुतसे कमसंख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमनके द्वारा स्थूल स्कन्ध बन जाते हैं, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदिमें सूक्ष्म परिणमनके द्वारा इन्द्रिय-अग्राह्य स्कन्धके रूपमें ही रह जाते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यताके लिए परमाणुओंकी संख्या अपेक्षित नहीं है, किन्तु उनका अमुक रूपमें स्थूल परिणमन ही विशेषरूपसे अपेक्षणीय होता है। ये अनेक प्रकारके बन्ध परमाणुओंके अपने स्निग्ध और रुक्ष स्वभावके कारण प्रतिक्षण होते रहते हैं, और परमाणुओंके अपने निजी परिणमनोंके योगसे उस स्कन्धसे रूपादिका तारतम्य घटित हो जाता है।

एक स्थूल स्कन्धमें सैकड़ों प्रकारके बन्धवाले छोटे-छोटे अवयव-स्कन्ध शामिल रहते हैं; और उनमें प्रतिसमय किसी अवयवका टूटना, नयेका जुड़ना तथा अनेक प्रकारके उपचय-अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध-अवस्था बिना रासायनिक बन्धके नहीं होती। यों साधारण संयोगके आधारसे भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहारके लिए नई संज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतनेमात्रसे स्कन्ध अवस्था नहीं बनती। इस रासायनिक बन्धके लिए पुरुषका प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और बिना प्रयत्नके भी अनेकों बन्ध प्राप्त सामग्रीके अनुसार होते हैं। पुरुषका प्रयत्न उनमें स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकड़ों प्रकारके भौतिक आविष्कार इसी प्रकारकी प्रक्रियाके फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त पुद्गल परमाणुओंका समा जाना आकाशकी अवगाहशक्ति और पुद्गलाणुओंके सूक्ष्मपरिणमनके कारण सम्भव हो जाता है। कितनी भी सुसम्बद्ध लकड़ीमें कील ठोकी जा सकती है। पानीमें हाथीका डूब जाना हमारी प्रतीतिका विषय होता ही है। परमाणुओंकी अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। आजके एटम बमने उसकी भीषण संहारक शक्तिका कुछ अनुभव तो हम लोगोंको करा ही दिया है।

गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणोंका अभिन्न आधार होता है। अतः उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गलपरमाणु गुणवत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणोंका आधार होता है। प्रत्येक गुणका भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्यका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यसे गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है; और संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदिके भेदसे उसका विभिन्नरूपसे निरूपण किया जाता है; अतः वह भिन्न है। इस दृष्टिसे द्रव्यमें जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकी-से देखा जाय तो पर्याय और गुणको छोड़कर द्रव्यका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायोंमें परिवर्तन होनेपर भी जो एक अविच्छिन्नताका नियामक अंश है, वही तो गुण

३०८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

है। हाँ, गुण अपनी पर्यायोंमें सामान्य एकरूपताके प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणुमें रूप अपनी किसी नई पर्यायको लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुणकी सम्पत्ति (Property) या स्वरूप हैं।

रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं

एक पक्ष यह भी है कि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंकी सत्ता नहीं है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखोंसे रूप, जीभसे रस, नाकसे गन्ध और हाथ आदिसे स्पर्शके रूपमें जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा उसमें रूपादि गुणोंकी प्रतीति होती है, वस्तुतः उसमें इन गुणोंकी सत्ता नहीं है। किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली हैं, गुणोंकी उत्पादक नहीं। जिस समय हम किसी आमको देख रहे हैं, उस समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हमारे न सूँघनेपर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूनेपर भी उसमें रस और स्पर्श है, यह बात प्रतिदिनके अनुभव की है। इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह चेतन आत्मामें एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेकों गुणोंका युगपत् सद्भाव पाया जाता है, और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्हीं अनेक रूपोंमें विकसित होता है। इसीलिखे गुणोंको सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायों व्यतिरेकी और क्रमभावी होती हैं। वे इन्हीं गुणोंके विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्यमें जिस क्षण ज्ञानकी अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी-अपनी पर्यायोंके रूपसे बराबर परिणत हो रहे हैं। यद्यपि इन समस्त गुणोंमें एक चैतन्य अनुस्यूत है; फिर भी यह नहीं है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणोंके रूपमें केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणोंकी अपनी स्थिति स्वयं है और यही एकसत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु इन्हीं सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि-सृष्टि नहीं हैं कि अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस द्रव्यमें कभी प्रतिभासित हो जाते हों और प्रतिभासके बाद या पहले अस्तित्व-विहीन हों। इस तरह प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यमें अपने सहभावी गुणोंके परिणमनके रूपमें अनेकों उत्पाद और व्यय स्वभावसे होते हैं और द्रव्य उन्हींमें अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड-सत्तावाले गुण-पर्याय ही द्रव्य हैं। गुण प्रतिसमय किसी-न-किसी पर्याय रूपसे परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्तासे अनुस्यूत रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्यका अर्थ है, उन-उन क्रमभावी पर्यायोंको प्राप्त होना। और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता ही है, किन्तु इस प्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मूल्य नहीं। एक द्रव्यसे तादात्म्य रखनेके कारण सभी गुण एक तरहसे द्रव्य ही हैं, पर इगका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक गुण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होनेके कारण स्वयं एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुतः द्रव्यांश कहे जा सकते हैं, द्रव्य नहीं। यह अंशकल्पना भी वस्तुस्थितिपर प्रतिष्ठित है, केवल समझानेके लिए ही नहीं है। इस तरह द्रव्य गुण-पर्यायोंका एक अखण्ड, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हर एक प्रदेशमें सम्पूर्ण गुणोंकी सत्ताका आधार होता है।

इस विवेचनका यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययोंका और गुणरूपसे ध्रौव्यका युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायोंमें जिस प्रकारका वास्तविक तादात्म्य रखता है,

उस प्रकारका तादात्म्य दो द्रव्योंमें नहीं हो सकता। अतः अनेक विभिन्न सत्ता के परमाणुओंके बन्ध-कालमें जो स्कन्ध-अवस्था होती है, वह उन्हीं परमाणुओंके सदृश परिणमनका योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नहीं आता, अपितु विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धोंके रूपमें व्यवहृत होते हैं। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व-परिणतिरूप है।

कार्योत्पत्ति विचार

सांख्यका सत्कार्यवाद

कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन वाद हैं। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्-असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है कि प्रत्येक कारणमें उससे उत्पन्न होने-वाले कार्यकी सत्ता है क्योंकि सर्वथा असत् कार्यकी खरविषाणकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती। गेहूँके अंकुर-के लिए गेहूँके बीजको ही ग्रहण किया जाता है, यवादिके बीजको नहीं। अतः ज्ञात होता है कि उपादानमें कार्यका सद्भाव है। जगत्में सब कारणोंसे सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत कार्य होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणोंमें जिन कार्यका सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते हैं, अन्य नहीं। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्यको पैदा करता है, अशक्यको नहीं। यह शक्यता कारणमें कार्यके सद्भावके सिवाय और क्या हो सकती है? और यदि कारणमें कार्यका तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसारमें कोई किसीका कारण नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव स्वयं ही कारणमें किसी रूपसे कार्यका सद्भाव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकालमें किसी एक कारणमें लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते हैं, उसमें उनका सद्भाव किसी रूपसे रहा आता है। ये कारणोंमें कार्यकी सत्ता शक्ति-रूपसे मानते हैं, अभिव्यक्तिरूपसे नहीं। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान—प्रकृति है, उसीसे संसारके समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

नैयायिकका असत्कार्यवाद

नैयायिकादि असत्कार्यवादी हैं। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न होता है वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओंके संयोगके बिखर जानेपर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके पहले उस अवयवी द्रव्यकी कोई सत्ता नहीं थी। यदि कार्यकी सत्ता कारणमें स्वीकृत हो तो कार्यको अपने आकार-प्रकारमें उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नहीं जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। कहीं भी अवयवीकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवोंमें ही। अवयवोंसे भिन्न अर्थात् अवयवोंसे पृथक् अवयवीको जुदा निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।

बौद्धोंका असत्कार्यवाद

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टिमें पूर्व और उत्तरके साथ वर्तमानका कोई सम्बन्ध नहीं। जिस कालमें जहाँ जो है, वह वहीं और उसी कालमें नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारण-भाव आदि व्यवहारोंकी नियामिका है। वस्तुतः दो क्षणोंका परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

१. “असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य।”

—सांख्यका० ९।

३१० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

जैनदर्शनका सदसत्कार्यवाद

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थमें मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होनेपर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती हैं। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओंसे बाहरकी नहीं हैं, किन्तु उन्हींमेंसे विशेष अवस्थाओंमें साक्षात् विकासको प्राप्त होनेवाली हैं। जैसे मिट्टीरूप पुद्गलके परमाणुओंमें पुद्गलकी घट-पट आदिरूपसे परिणमन करनेकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ हैं, पर मिट्टीकी तत्पर्याययोग्यता घटकी ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदिको नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्यमें द्रव्ययोग्यताके साथ ही तत्पर्याययोग्यता या शक्तिके रूपमें रहता है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूपसे ही है, पर्यायरूपसे नहीं है।

सांख्यके यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' ही है, जिसमें जगत्के समस्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति है। ऐसी दशामें जबकि उसमें शक्तिरूपसे सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समयमें अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारणके एक होनेपर परस्परविरोधी अनेक कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः सांख्यके यह कहनेका कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारणमें कार्य शक्तिरूपसे है, व्यक्तिरूपसे नहीं', क्योंकि शक्तिरूपसे तो सब सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और निरंश है, अतः उससे एक साथ विभिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी अनेक कार्योंका आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामका कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टीके पिण्ड-से घटकी तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

जैनदर्शनका उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टीके परमाणुओंमें यद्यपि पुस्तक और पटरूपसे परिणमन करनेकी मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टीकी पिण्डरूप पर्यायमें साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बनानेकी तत्पर्याय-योग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टीका पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्रीके अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंका युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यता की है। जिस क्षणमें कारणद्रव्योंमें जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगी उनमेंसे किसी एकका विकास प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार हो जाता है। पुरुषका प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकारमें परिणत कराने-के लिए विशेष साधक होता है। उपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यताके आधारपर होती है, मात्र द्रव्य-योग्यताके आधारसे नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदों दोनों बीजोंके परमाणुओंमें सभी अंकुरोंको पैदा करनेकी समानरूपसे है परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदोंके बीजमें कोदोंके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। तथा गेहूँके बीजमें गेहूँके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न-भिन्न कार्योंकी उत्पत्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपादानोंका ग्रहण होता है।

धर्मकीर्तिके आक्षेपका समाधान

अतः बौद्धका यह दूषण कि "दहीको खाओ, यह कहनेपर व्यक्ति ऊँटको क्यों नहीं खाने दौड़ता ? जबकि दही और ऊँटके पुद्गलोंमें पुद्गलद्रव्यरूपसे कोई भेद नहीं है।" उचित मालूम नहीं होता; क्योंकि जगत्-का व्यवहारमात्र द्रव्य-योग्यतासे नहीं चलता, किन्तु तत्पर्याययोग्यतासे चलता है। ऊँटके शरीरके पुद्गल और

१. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"

—प्रमाणवा० ३।१८१

दहीके पुद्गल, द्रव्यरूपसे समान होनेपर भी 'एक' नहीं हैं और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूपसे भी अपना परस्पर भेद रखते हैं तथा उनकी तत्पर्याययोग्यताएँ भी जुदी-जुदी हैं, अतः दही हो खाया जाता है, ऊँटका शरीर नहीं। सांख्यके मतसे यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनों रूपसे विकसित हुआ है, तब उनमें भेदका नियामक क्या है? एक तत्त्वमें एक ही समय विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके परिणमन नहीं हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टीके परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं; तो क्या नियामक है जो घड़ा वहीं उत्पन्न हो अन्यत्र नहीं? प्रतिनियत कार्य-कारण की व्यवस्थाके लिए कारणमें योग्यता या शक्तिरूपसे कार्यका सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारणमें कार्योत्पादानकी योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूल-द्रव्योंमें समान होनेपर भी विभिन्न अवस्थाओंमें उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतताके कारण जगत्में अनेक प्रकारके कार्यकारणभाव बनते हैं। यह तो हुई अनेक पुद्गलद्रव्योंके संयुक्त स्कन्ध की बात।

एक द्रव्यकी अपनी क्रमिक अवस्थाओंमें अमुक उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोग्यतापर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु कारणभूत पर्यायकी तत्पर्याय-योग्यतापर भी। प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे परिणामी होनेके कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवादके आधारसे जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारणमें कार्याकारसे असत् होकर भी योग्यता या शक्तिके रूपमें सत् है। यदि कारण-द्रव्यमें वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न हो नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाहमें चलने-वाली धाराबद्ध पर्यायोंका परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्यायमें उपादान कारण हो सके, दूसरेकी उत्तर पर्यायमें नहीं। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्यके सत्कार्यवादमें सम्भव है, और न बौद्ध तथा नैयायिक आदिके असत्कार्यवादमें ही। सांख्यके पक्षमें कारणके एक होनेसे इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेदको सिद्ध करना असम्भव है, और बौद्धोंके यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षणके साथ अमुक क्षणका उपादान-उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकोंके अवयवी द्रव्यका अमुक अवयवोंके ही साथ समवायसम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैनदर्शनमें ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाणके प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य-विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्यसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध रखनेके कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्य की तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हींके एक-एक धर्मों-में नयोंकी प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शनकी दृष्टिमें द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्यकी पर्यायें हैं, स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं।

